बहुसंस्कृतिवाद का कपट

डॉ. शंकर शरण

चिन्तन-सृजन
वर्ष-४ , अंक-१

बहुसंस्कृतिवाद का कपट

शंकर शरण*

शिष्यकुछ लोगों को 'वन्दे मातरम्' के राष्ट्रीय गान होने में आपत्ति है और कुछ कांग्रेसी उसके कुछ पदों को निकाल देने के पक्ष में हैं।

श्री अरविन्दउस स्थिति में हिन्दुओं को अपनी संस्कृति छोड़ देना चाहिए।

शिष्यतर्क यह है कि इस गान में दुर्गा आदि हिन्दू देवी-देवताओं की बात कही गई है जो मुसलमानों के लिए अप्रिय है।

श्री अरविंदलेकिन यह धार्मिक गान नहीं है। यह एक राष्ट्रीय गान है और...राष्ट्रीयता के भारतीय स्वरूप में स्वभावतः हिन्दू दृष्टि रहेगी। अगर इसे यहाँ स्थान न मिल सके तो हिन्दुओं से कहा जा सकता है कि वे अपनी संस्कृति छोड़ दें।...हिन्दू अपने भगवान की पूजा क्यों न करें? अन्यथा हिन्दुओं को या तो इस्लाम स्वीकार कर लेना चाहिए या यूरोपीय संस्कृति या फिर नास्तिक बन जाना चाहिए।

(30 दिसम्बर 1939, सांध्य वार्ताएँ)

1

कोई डेढ़ वर्ष पहले की बात है। दिल्ली की किसी ऊँची जगह में शायरी की एक पुस्तक छपने के अवसर पर पार्टी चल रही थी। शायर के एक भाई भी मौजूद थे, जो स्वयं प्रसिद्ध शायर और एक बड़ी फिल्मी हस्ती हैं। उनके आस-पास संस्कृतिकर्मी, बौद्धिक किस्म के महानुभावों का जमावड़ा था। इन महानुभावों में अधिकांश हिन्दू थे। जैसा प्रायः होता है, जब कोई मुस्लिम हस्ती सामने हो, तो अनेक हिन्दू बुद्धिजीवी खाम-खाह अरबी, फारसी शब्दों का प्रयोग करते हुए झुक-झुक कर अपने सेक्यूलर, प्रगतिशील होने का प्रमाण दे रहे थे।

चूँकि अवसर शायरी का था, तो बात उर्दू की स्थिति पर चल निकली। प्रसिद्ध मुस्लिम शायर ने कहा कि भारत में उर्दू की हालत बड़ी खराब हो गई है। एक जमाना था कि यहाँ उर्दू का रुतबा था। पढ़े-लिखे होने का मतलब ही था कि आदमी फारसीदाँ नहीं तो उर्दूदाँ तो है ही। इतना सुनना था कि उनकी हाँ में हाँ मिलाने की होड़ लग गई। 'हाय', 'अफसोस' जैसे शब्दों और उस अतीत के गुण गाने का

---

* डॉ. शंकर शरण, राष्ट्रीय शैक्षिक शोध एवं प्रशिक्षण परिषद्, नई दिल्ली में राजनीति विज्ञान के प्राध्यापक हैं।

सिलसिला शुरू हो गया जब लखनऊ, इलाहाबाद और दिल्ली में उर्दू का दौर-दौरा था। यह सब सुनकर शायर ने बड़ी शिकायती मुद्रा में उपस्थित समाज को सम्बोधित करते हुए कहा, "आप लोगों ने तो उर्दू को छोड़ ही दिया!"

वहीं निकट खड़े एक हिन्दी कवि-लेखक भी यह सब सुन रहे थे। अब उनसे रहा न गया। वह बोले, "हाँ हमने उर्दू को छोड़ दिया। क्योंकि पहले आपने भोजपुरी छोड़ दी, मगही छोड़ दी, ब्रज छोड़ दी, कजरी, चैता, फाग-होली छोड़ दी। आपने वह सब छोड़ दिया जो उस धरती की पहचान है, जिससे आप पैदा हुए हैं। तब हम दूर अरब की लिपि या फारसी लफ्जों के लिए किसलिए खामखाह फिक्रमन्द हों?" यह सुनकर शायर महोदय का चेहरा लाल हो गया। आस-पास खड़े लोग झेंप गए। किसी को कोई उत्तर न सूझा। संयोगवश यह हिन्दी कवि लेखक भारत सरकार में ऊँचे अफसर भी थे, इसलिए उन्हें झिड़का भी न जा सकता था कि ऐसी अनुपयुक्त, राजनीतिक रूप से असंगत (पोलिटिकली इन्करेक्ट) बातें वह कैसे बोल रहा है! हिन्दी लेखक व अफसर इतने पर ही चुप नहीं हुए। शायर को सम्बोधित करते हुए उन्होंने खुली चुनौती दी, "आप तो मूलतः फैजाबाद इलाके के हैं। क्या आपको अवधी आती है?" शायर चुप थे, उन्हें काटो तो खून नहीं। ऐसी मजलिसों में उन्हें केवल प्रशंसा और चापलूसी सुनने की आदत थी। ऐसे असुविधाजनक प्रश्नों के लिए वे बिल्कुल तैयार न थे।

तब किसी ने नरमी से हस्तक्षेप किया, "लेकिन उर्दू तो केवल मुसलमानों की भाषा न थी। यह तो भारत की गंगा-जमुनी तहजीब की मिसाल थी। आज भारत में इसे मुसलमानों की भाषा माना जाता है। क्या यह दुःख की बात नहीं?" हिन्दी लेखक ने छूटते ही कहा, "इसे और किसी ने नहीं, खुद मुसलमानों ने मुसलमानों की भाषा बना डाला है। वरना मेहरबानी कर के बताएँजम्मू-कश्मीर की राजभाषा उर्दू क्यों बनाई गई, जब कि वहाँ के लोग कश्मीरी, डोगरी और भोट भाषाएँ बोलते रहे हैं? निजाम के समय में हैदराबाद राज्य की राजभाषा उर्दू क्यों थी, जबकि वहाँ के मुसलमान भी तेलुगु ही बोलते थे? और पाकिस्तान की राजभाषा उर्दू क्यों बनी जब कि वहाँ तमाम लोगों की भाषाएँ पंजाबी, सिंधी या पश्तो रही थीं?"

कहना न होगा कि उस मजलिस में उस हिन्दी लेखक के सभी प्रश्न अनुत्तरित रहे। यह प्रसंग भी उसी रोग का एक उदाहरण है जिसमें 'बहुसंस्कृतिवाद', 'कम्पोजिट कल्चर' या 'गंगा-जमुनी संस्कृति' जैसे फिकरे उछाले जाते हैं। किन्तु वास्तव में उस की आड़ में हिन्दुओं से अपने सनातन धर्म व संस्कृति के प्रत्येक तत्त्व को छोड़ने की माँग की जाती है। इसके लिए यही जिद्दी तर्क दिया जाता है कि भारत की संस्कृति सनातन या भारतीय नहीं, वरन् तथाकथित 'मिली-जुली' संस्कृति है। बल्कि यदि कोई हिन्दू संस्कृति की बात करता है, तो यह खुला संकेत किया जाता है कि वह हिन्दू साम्प्रदायिक ही हो सकता है जिसकी केवल भर्त्सना ही होनी

चाहिए। पिछले चार-पाँच दशक से नेहरूवादी-मार्क्सवादी बौद्धिकता यह स्थापित करने के लिए हर तरह के हथकंडे अपनाए हैं। सत्ता का दबाव, सेंसरशिप, अकादमिक संस्थाओं का राजनीतिकरण, इतिहास की लीपा-पोती, स्वतन्त्र बुद्धि के लेखकों, विद्वानों पर लांछन तथा दुष्प्रचार। मुस्लिम वोटों के लिए राजनीतिक दलों की चापलूसी प्रतिद्वन्द्विता ने भी वही प्रचारित किया। अन्ततः निरन्तर प्रचार से अब यह बौद्धिक-राजनीतिक प्रवृत्ति ऐसी जम गई है कि कभी खुली चर्चा तक नहीं होती, कि इस पूरे मामले में सदैव एकतरफापन क्यों रहा है?

इसका एक बड़ा कारण तो यह है कि दुर्भाग्य से स्वतन्त्र भारत में शुरू से ही शैक्षिक-बौद्धिक क्षेत्र में मार्क्सवादी वर्चस्व स्थापित हो गया। क्योंकि प्रथम प्रधान मन्त्री मार्क्सवादी विचारधारा और कम्युनिस्ट देशों से गहरे प्रभावित थे। साथ-ही-साथ वह इस्लाम से लगाव और हिन्दू भाव से वितृष्णा रखते थे। इस दुर्योग ने यहाँ इतिहास लेखन और राजनीतिक विमर्श पर वामपंथी दबदबा और हिन्दू विरोधी प्रवृत्ति को स्थापित करने में बड़ी मदद दी। इसके कितने घातक परिणाम हुए और हो रहे हैं, इससे कम ही लोग परिचित हैं।

उदाहरण के लिए भारत में इतिहास लेखन और कुल मिलाकर सामाजिक विज्ञान पूरी तरह पंगु हो गया है। वह लेखन कम और लीपापोती या राजनीतिक प्रचार अधिक है। उन्हीं लीपा-पोती और प्रचारों में एक यह है कि दुनिया की एक सबसे प्राचीन सभ्यता भारत की अपनी कोई संस्कृति नहीं है! इस प्रचार में कहा यह जाता है कि भारत की संस्कृति अनेक बाहरी 'आगंतुक' संस्कृतियों के मेल से बनी मिश्रित संस्कृति या 'कम्पोजिट कल्चर' है। इस मुहावरे की आड़ में भारतीय सभ्यता के सबसे मूल्यवान तत्त्वों को ठुकरा या पर्दे से ढँक दिया जाता है।

हमारे प्रभावशाली वामपंथी बुद्धिजीवियों के लेख, भाषण, पुस्तकें आदि पढ़-सुनकर यही लगता है मानो भारत का इतिहास सोलहवीं शती से ही आरम्भ होता है। उससे पहले जो भी था वह 'बढ़ाई-चढ़ाई' बातें हैं। उनकी बातों का सार-संक्षेप यह है कि भारत में सबसे गौरवशाली शासक अकबर हुआ। यहाँ भाषा-साहित्य का मतलब उर्दू-शायरी, वैसा भक्ति साहित्य जो किसी न किसी तरह एकेश्वरवाद को श्रेष्ठ बताता हो, यानी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इस्लाम को वरिष्ठता या मान्यता देता हो, संगीत का मतलब सूफी-सिलसिला, खान-पान का मतलब मुगलई, स्थापत्य के माने ताजमहल, और राजनीति का आदर्श जवाहरलाल नेहरू वाला सेक्यूलरिज्म। यदि कोई इससे परे भारत की किसी सांस्कृतिक विरासत या राष्ट्रीय पहचान की बात करे, तो वह मात्र 'हिन्दू साम्प्रदायिकता' का फितूर है! अब यह कम्पोजिट कल्चर या बहुसंस्कृतिवाद है या बौद्धिक छल, पाठक स्वयं तय करें।

पर यह छल निरन्तर होता रहता है। आखिर भारत के मुस्लिम बुद्धिजीवियों और उनके वामपंथी पैरोकारों की संस्कृति सम्बन्धी सभी हसरतें उर्दू या सातवीं सदी

के बाद से ही क्यों जुड़ती हैं? कम लोगों ने ध्यान दिया है कि इस्लाम-पूर्व भारत के सम्बन्ध में किसी भी विषय पर कोई मुस्लिम विद्वान नहीं मिलता! प्राचीन भारत की सभ्यता, संस्कृति, साहित्य, दर्शन, गणित, विज्ञान, स्थापत्य आदि अत्यन्त रोचक विषय हैं। सभ्यता-ज्ञान के अगाध भण्डार भी। तब इन विषयों का अध्ययन करने वाले मुस्लिम अध्येता क्यों नहीं होते? अभी हमारे देश में इतिहासकारों में एक प्रमुख गुट 'अलीगढ़ स्कूल' ही कहलाता है। लेकिन क्या यह संयोग मात्र है कि उनमें से कोई भी प्राचीन भारत, संस्कृत या पाली साहित्य, बौद्ध दर्शन, योग चिन्तन, मन्दिरों, भित्ति-चित्रों या पौराणिक आख्यानों का जानकार नहीं? सब के सब केवल मुगल काल, दिल्ली सल्तनत या अरबी इतिहास में ही दिलचस्पी रखते हैं। यह कोई गोपनीय तथ्य नहीं है कि उन सबके लिए भारत का इतिहास, बल्कि अस्तित्व ही तब से आरम्भ होता है जब इस्लाम का 'आगमन' हुआ। मुस्लिम विद्वानों में इस्लाम-पूर्व इतिहास, संस्कृति का ज्ञाता न मिलना इसी मानसिकता की व्युत्पत्ति है।

सच तो यह है कि अयोध्या-विवाद की पूरी समस्या खड़ी ही इसीलिए हो सकी क्योंकि भारतीय संस्कृति के सर्वाधिक प्रतिनिधि, सार्वभौमिक कालजयी प्रतीकोंराम, कृष्ण, शिव, रामायण, महाभारत, अयोध्या, मथुरा, काशी आदि से मुस्लिम समुदाय की आमतौर पर कोई सहानुभूति नहीं है। यानी उन प्रतीकों से जो कश्मीर से कन्याकुमारी और कामाख्या से द्वारिका तक भारत को एक विशिष्ट सूत्र से जोड़ती है। इनसे मुस्लिम समुदाय की, बल्कि उनके नेताओं, बुद्धिजीवियों की दिलचस्पी मात्र इसीलिए नहीं है क्योंकि उन्हें इस्लाम पूर्व भारत से कोई लेना-देना ही नहीं! क्योंकि वह सब तो इस्लाम के अनुसार जाहिली का समय 'जाहीलिया' है। ऐसे इस्लामी विश्वास के चलते ही इस्लामी नेता अयोध्या-काशी-मथुरा जैसी परम्पराओं से अपना कोई सम्बन्ध नहीं मानते।

और यही बात हिन्दुओं पर भी थोपने के लिए 'कम्पोजिट कल्चर', बहुसंस्कृति या मिली-जुली संस्कृति की रट लगाई जाती है! ताकि हिन्दू लेखक, विद्वान यदि प्राचीन भारत के इतिहास, संस्कृति, मनीषा आदि का अध्ययन करें भी तो उसके प्रति किसी गौरव की भावना न रखें। बल्कि किसी भी विषय में सकारात्मक भाव से 'हिन्दू' संज्ञा, विशेषण आदि के प्रयोग से भी बचे! इस प्रकार स्वतन्त्र भारत में मिली-जुली संस्कृति या 'गंगा-जमुनी तहजीब' के नाम पर एक घातक राजनीति चलती रही है। इस तहजीब के नाम पर मुस्लिम समुदाय तो वेश-भूषा, खान-पान, भाषा-संस्कृति, जीवनचर्या, कानून, इतिहास, शिक्षा, साहित्य, राजनीति आदि हर मामले में मात्र इस्लामी मानदण्ड से चलने के लिए स्वतन्त्र है। जबकि हिन्दू समुदाय से आशा की जाती है कि वह हर विषय में सेक्यूलर, हिन्दू-विरोधी और आत्म-घृणा की हद तक सेक्यूलर रहे। यह पाखण्डी परिदृश्य केवल भारत की ही विशेषता नहीं। हर उस देश में जहाँ इस्लामी सता नहीं है, इस्लामी प्रतिनिधि अन्य लोगों से यही

माँग करते हैं। जो माँगें भारत में मिली-जुली संस्कृति या सेक्यूलरिज्म के नाम पर की जाती हैं, वही यूरोप या अमेरिका में 'मल्टी-कल्चरलिज्म' (मल्टी-कल्टी) की शब्दावली है। यह कपट समझना आत्यन्त आवश्यक है।

2

भारत की कोई अपनी विशिष्ट संस्कृति नहीं, बल्कि 'मिश्रित संस्कृति' है, यह घातक थीसिस प्रमुखतया जवाहरलाल नेहरू की देन है, जिसे पिछले पाँच-छः दशक के अथक दुहराव और सत्ता समर्थित प्रचार के बल से एक स्वयं सिद्ध तथ्य बना दिया गया है। किन्तु 'मिश्रित संस्कृति' के जुमले का अर्थ पूछो तो एक ही बात घुमा-फिरा कर कही जाती है कि वह संस्कृति जो इस्लाम के 'योगदान' से बनी। ग्यारहवीं शती से समय-समय पर भारत में अरबी, तुर्की, मंगोल शासकों के शासन में उनके 'संसर्ग' से जो संस्कृति बनी। इसलिए इस्लामी 'योगदान' से पहले भारत की जो भी संस्कृति रही हो, वह या तो बेकार थी या उसकी चर्चा को महत्त्व नहीं दिया जाना चाहिए। मिली-जुली संस्कृति या कम्पोजिट कल्चर पर बल देने में यह भाव अवश्यमेव रहता है।

इसमें कुछ बातें विचारणीय हैं। पहला प्रश्न तो यही है कि यदि इस्लामी योगदान से यह 'मिश्रित संस्कृति' भारत में बनी, तो ऐसी कोई संस्कृति किसी और देश में क्यों नहीं बनी जहाँ इस्लाम पहुँचा? उदाहरणार्थ मेसोपोटामिया (इराक), फारस (ईरान), गंधार (अफगानिस्तान) में भी इस्लामी सत्ता बनने से पहले महान संस्कृतियाँ मौजूद थीं। वहाँ कल्चर कम्पोजिट क्यों न बना? उन देशों में इस्लाम-पूर्व सभ्यता के चिन्ह तक कहाँ लुप्त हो गए? यदि क्षण भर के लिए यही मान लें कि दुनिया में इस्लाम जहाँ-जहाँ पहुँचा, उनमें यह दुर्लभ कम्पोजिट कल्चर केवल भारत में ही बना, तब प्रश्न है कि यही कल्चर भारत से अलग हुए हिस्से पाकिस्तान में कहाँ गुम हो गया? वह विशुद्ध इस्लामिक कल्चर में, यानी फारस, गंधार वाले हश्र में, कैसे तब्दील हो गया? वह भी तुरत!

विश्व का मानचित्र सामने रखकर देखें तो बात साफ हो जाएगी। स्पेन से लेकर मध्य एशिया तक जहाँ तक इस्लाम का प्रसार हुआ, किसी देश में 'मिश्रित संस्कृति' का फिकरा सुनने को नहीं मिलता। इस्लाम से पहले स्वयं अरब एक विकसित सभ्यता था। उसे मुहम्मद के बाद के सिर्फ बीस वर्षों में इस्लाम ने रौंद डाला। फारस को ध्वस्त होने में महज पचास वर्ष लगे। उसके बाद विश्व-प्रसिद्ध फारसी सभ्यता का कोई जीवित चिन्ह नहीं बचा। जान बचाकर भागे फारसियों ने भारत में शरण ली, जहाँ पारसी समुदाय के रूप में वे आज सुपरिचित हैं। बौद्ध गंधार ने अवश्य तीन सौ सालों तक प्रतिरोध किया। फिर वे भी नहीं टिक पाए। इन सब देशों में इस्लाम-पूर्व सभ्यता का कोई अवशेष तक नहीं रहा। और यहाँ भारत में इस्लाम के *योगदान* से 'कम्पोजिट कल्चर' की कहानी गढ़ दी गई है! बात निपट

उलटी है। इस्लामी प्रहार भारतीय संस्कृति को खत्म नहीं कर सका, मात्र घायल कर सका, और यह 'मिश्रित' चिन्ह उसी घाव के हैं।

नेहरू जी के मूल तर्क को ही लें। उन्होंने भारत की 'मिश्रित संस्कृति, की उत्पत्ति पर लिखा है कि विदेशी इस्लामी शासकों ने यहाँ की स्त्रियाँ से विवाह किया, "जिसके बाद न कोई विजेता रहा, न कोई विजित, सब मिल-जुल गए!" अलाउद्दीन खिलजी से लेकर जहाँगीर तक, नेहरू जी ने बार-बार मात्र एक यही तर्कआक्रांता मुस्लिमों द्वारा हिन्दू स्त्रियों से भी विवाह, दुहराया है! इस के अतिरिक्त नेहरू जी के पास कहने के लिए कुछ नहीं है। जो अधिक ध्यान से देखने पर उल्टा ही निष्कर्ष देगा कि वास्तव में जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में कहीं कोई मेल नहीं बन सका (यह तथ्य सैयद अहमद खान जैसे नेताओं, तथा सर इकबाल, आई.एच. कुरैशी से लेकर नीरद सी. चौधरी तक, सभी स्पष्टवादी लेखकों, विद्वानों ने नोट भी किया है)।

किन्तु सबसे बुरी बात यह है कि नेहरूजी का एकमात्र तर्क अत्यन्त लज्जास्पद भी है। प्रथम, इस्लामी सुलतानों, बादशाहों, सरदारों के हरमों में हिन्दू स्त्रियाँ बलपूर्वक ले जाई जाती थीं। स्वेच्छया किसी हिन्दू द्वारा बेटी या बहन के विवाह सम्बन्ध का प्रस्ताव किसी सुलतान, सरदार, बादशाह को दिया गया हो, ऐसा एक भी उल्लेख सदियों के मुस्लिम शासन में नहीं मिलता। दूसरे, उन स्त्रियों को बलात् इस्लाम में धर्मांतरित भी करा लिया जाता था। परवर्ती मुगल शासन में इक्के-दुक्के अपवाद ही मिलते हैं जब किसी हिन्दू बेगम को अपनी पूजा-उपासना करने की छूट दी गई हो। पर नेहरू जी के लिए हिन्दू स्त्रियों का धर्मांतरण करा लेना कोई महत्त्वपूर्ण तथ्य ही न था! तीसरे, किसी हिन्दू ने भी किसी इस्लामी शासक, सरदार की बेटी या बहन से विवाह किया हो, इसका भी कोई उदाहरण नहीं है। अन्ततः यह भी कि इस्लामी सरदारों, शासकों की जो सन्तानें हिन्दू स्त्रियों से उत्पन्न हुईं उनमें कभी इसके लिए कोई गौरव भाव नहीं देखा गया कि उनकी माँ हिन्दू थी। अतएव, जो बात एकतरफा बलात्कार मात्र थी, जो इस्लामी काल में हिन्दू समाज के लिए हर तरह से सदैव लज्जा और विवशता की रही, उसे 'मिश्रित संस्कृति' बताकर नेहरूजी ने भारत का घोर अपमान ही किया है। ऐसा लज्जास्पद कुतर्क नेहरू इसीलिए कर सके, क्योंकि वह अपने ही शब्दों में 'तबीयत से मुसलमान' थे और उन्हें हिन्दुत्व से अरुचि थी।

बाद में हमारे मार्क्सवादी इतिहासकारों ने 'मिश्रित संस्कृति' के इस नेहरूवादी कथानक को बल पहुँचाने के लिए भारत पर हुए इस्लामी आक्रमण को सजा-सँवार कर 'आगमन' कहना आरम्भ किया। यहाँ 'कम्पोजिट कल्चर' की कहानी सुनाने में अब यह आवश्यक तत्त्व बन गया है कि हर आक्रमणकारी, यदि वह मुस्लिम था, तो उसे 'आगंतुक' कहा जाएगा। उसके द्वारा स्थापित शासन को भी विदेशी शासन नहीं कहा जाएगा, चाहे उसमें हमेशा अधिकांश सामन्त, सिपहसालार और सरदार

अरबी, फारसी, मंगोल आदि विदेशी मुस्लिम ही क्यों न रहते रहे हों। इसके लिए मार्क्सवादी इतिहासकारों ने भारत के इस्लामी काल के इतिहास को हर तरह से तोड़ने-मरोड़ने, लीपा-पोती करने, अर्थात् मिथ्याकरण का प्रयास किया है। बड़ी-बड़ी घटनाएँ गुम कर दी जाती हैं ताकि 'मिश्रित संस्कृति' की कपोल-कथा को चोट न पहुँचे।

यह भी अनायास नहीं है कि यहाँ 'मिश्रित संस्कृति' की उत्साहपूर्ण चर्चा करने वाले उसे ईरान, अफगानिस्तान या पाकिस्तान में भी खोजने की कोशिश नहीं करते। फारसी सभ्यता के अवशेष वहाँ से जान बचाकर भागे हुए पारसियों द्वारा गुजरात में आज भी मिल जाते हैं। मगर ईरान में उसका कुछ शेष नहीं है! और उसी ईरान से भारत कितना दूर था? किन्तु यहाँ पैर जमाने में भी इस्लामी हमलावरों को पाँच सदियाँ लगीं। उसके बाद भी यहाँ की संस्कृति, साहित्य, संगीत, अध्यात्म आदि किसी चीज को वे मिटा न सके। जो संगीत, जो साहित्य भारत में डेढ़ हजार वर्ष पहले था, वह आज भी उपलब्ध है। यह तब, जब इस्लामी आक्रमणकारियों ने ग्यारहवीं सदी से ही सोमनाथ मन्दिर, तक्षशिला, नालंदा, विक्रमशिला विश्वविद्यालय के पूर्ण विध्वंस जैसे भयंकर कारनामे अनवरत किए। फिर भी न केवल इस्लामी आक्रान्ता भारतीय संस्कृति को मिटाने या जीतने में विफल रहे, बल्कि स्वयं इस्लाम का चरित्र भारत आकर, रहकर पूरी तरह डगमगा गया।

यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि इस्लामी विश्व-विजय के बढ़ते ज्वार को भारत में आकर अंततः उतार का सामना करना पड़ा। वह आगे बढ़ना तो दूर, भारत में भी अंततः अपदस्य हुआ। यह केवल राजनीतिक रूप से ही नहीं हुआ, जब एक मराठी सेनापति ने औरंगजेब के साम्राज्य को ध्वस्त कर दिया। ध्यान रहे, यह अंग्रेजों के हाथों मुगल शासन के खात्मे से पहले ही संपन्न हो चुका था। अतः राजनीतिक ही नहीं, वैचारिक-मजहबी विश्वास के रूप में इस्लाम यहाँ पराजित हुआ।

विश्व-विजय की उसकी दृढ़ता, तौहीद का अंधविश्वास, मूर्ति-पूजा से तीव्र घृणा, आदि उसकी कोई बुनियादी प्रतिज्ञा न थी, जो भारत में अखंडित रह सकी। धर्मांतरित होने के बाद भी भारतीय मुसलमान आमतौर पर वह नहीं बन सके जो इस्लाम का आदेश था। बीसवीं सदी तक भारत के अनेकानेक हिस्सों में मुसलमान हिन्दू रीति-रिवाजों का उसी तरह पालन करते रहे, जैसा वह जबरन-या-लोभ-दबाववश इस्लाम में धर्मांतरित होने से पहले तक करते रहे थे। बीसवीं सदी का तबलीगी आन्दोलन भारत के आम मुसलमानों को असली मुसलमान बनाने यानी भारत से पूर्णतः विमुख करने और अरब-मुखी बनाने का ही आन्दोलन था और है। तथाकथित 'मिश्रित संस्कृति' का एक पक्ष यह भी है कि उसका हवाला केवल हिन्दुओं को अपनी संस्कृति छोड़ने के लिए दिया जाता है। जबकि मुसलमान नेताओं, बौद्धिकों

का हरेक बात में अरब की संवेदनाओं, निर्देशों से चलना स्वभाविक माना जाता है। उसकी निन्दा करना तो दूर रहा।

अन्ततः यह प्रश्न भी विचारणीय है कि इस कम्पोजिट कल्चर के लिए आहें भरने वाले केवल भारतीय हिन्दू मार्क्सवादी ही क्यों हैं? उन्नीसवीं, बीसवीं सदी के अनगिनत मुस्लिम बुद्धिजीवियों में इसके प्रति कोई चिन्ता क्यों नहीं दिखाई पड़ती? यदि गम्भीरता से विचार करें तो इन प्रश्नों का एकमात्र उत्तर यही मिलेगा कि भारत में मिली-जुली संस्कृति इस्लाम की देन नहीं, उसकी निपट *विफलता* है। भारत पर सम्पूर्ण सैनिक, वैचारिक अधिकार कर पाने में विफलता। पूरे समाज का धर्मांतरण करा पाने में विफलता। अन्ततः भारत की सभ्यता, संस्कृति, आध्यात्मिक चेतना, दर्शन, परंपरा और अपने धर्म की रक्षा करने के लिए हिंदुओं के दृढ़-निश्चय को नष्ट कर पाने में विफलता के कारण ही यह तथाकथित कम्पोजिट कल्चर बना। अतः जिस चीज को मार्क्सवादी बुद्धिजीवी और प्रचारक भारत में इस्लाम की देन कहना चाहते हैं, वास्तव में यह उसका विपरीत है। यह हिन्दू प्रतिरोध का परिणाम है। इसीलिए पाकिस्तानी या भारतीय मुस्लिम बुद्धिजीवियों में इस संस्कृति के प्रति कोई आग्रह नहीं मिलता। वे अब भी अरब संस्कृति के प्रति आग्रही हैं, चाहे वह स्वयं वास्तव में हिन्दुओं जैसी ही हिन्दुस्तानी संस्कृति में जी रहे हों। अनेक कम्युनिस्ट नेताओं की तरह ही, जो रोजमर्रे के जीवन में हर तरह से भारतीय होते हुए भी मानसिकता में स्तालिनवादी संस्कृति से जुड़े थे।

3

किन्तु स्वीकार करना पड़ेगा कि वामपंथी प्रोफेसरों, बुद्धिजीवियों की राजनीतिक-वैचारिक कटिबद्धता व सक्रियता अनुकरणीय है। वही चार लोग चौदह किस्म के मंच से चौबीस कार्यक्रम करते नजर आते हैं। हर कार्य में एक ही उद्देश्य होता है : हिन्दू मनीषा, भावना, दर्शन, आकांक्षा, चिन्ता आदि को बेधड़क हिन्दू 'साम्प्रदायिकता' बताकर उसे मटियामेट करने का उपक्रम। अपनी जिद्दी प्रस्थापनाओं के लिए कितने भी असुविधाजनक प्रमाणों, तथ्यों, स्थितियों से कभी तनिक भी संकोचग्रस्त न होना, और हर मंच से, हर हाल में अपनी राजनीतिक-वैचारिक टेक दुहराना।

उसी प्रवृत्ति का एक उदाहरण पिछले दिनों दिल्ली में बहुसांस्कृतिक समाज और मिश्रित संस्कृति विषयक सेमिनार में देखा जा सकता था। वक्ताओं की सूची देशी उन मार्क्सवादी इतिहासकारों से भरी थी, जो स्वयं को प्रत्येक विषय का अधिकारी प्रवक्ता मानते हैं। उनके अतिरिक्त सावधानीपूर्वक चुने हुए विदेशी प्रगतिशील थे। भिन्न विचार का कोई न हो, इसके लिए संस्कृति विषयक लब्ध-प्रतिष्ठित भारतीय विद्वानों-विदुषियों को भी उपेक्षित किया गया। इतना ही नहीं, सेमिनार को मनचाही दिशा देने के लिए एक वरिष्ठ मार्क्सवादी ने पहले ही

विषय सम्बन्धी एक विस्तृत, लिखित प्रस्तावना बँटवा दी। तीन पन्ने के इस निबन्ध में पूरे विषय की मुश्कें बाँध कर इस प्रकार रख दिया गया कि क्या मजाल सेमिनार एक पूर्वनिर्धारित निष्कर्ष पर न पहुँचे! आखिर उनके आयोजनों का लक्ष्य ही यही रहता है कि मार्क्सवादियों द्वारा पूर्वनिर्धारित निष्कर्ष चतुराईपूर्वक सेमिनार का निष्कर्ष दिखा कर श्रोताओं, मीडिया और नौसिखुए भागीदारों के लिए भी घर ले जाने और दूर-दूर तक बार-बार प्रचार के लायक बन सके।

यह प्रस्तावना पढ़कर दो कहावतें ध्यान में आती हैं। यदि कोई किसी भले आदमी से पूछे, "तुमने अपनी बीवी को पीटना बन्द किया या नहीं? हाँ या ना में उत्तर दो", तो उसकी क्या हालत होती है! इस प्रस्तावना में भी ऐसे ही प्रश्न रखे गए थे। और एक, दो नहीं, पूरे तीस! जी हाँ, छोटे से तीन पृष्ठ के लेख में तीस प्रश्न छपे हुए हैं। जिन प्रश्नों से सम्बन्धित विषय के, इन्हें पढ़ने वालों के और सेमिनार भागीदारों के वैचारिक हाथ-पाँव बँधकर रह जाते हैं। जो भी व्यक्ति स्वतन्त्र बुद्धि से बहुसंस्कृति या मिली-जुली, मिश्रित संस्कृति पर विचार करना चाहे उसे इन तीस प्रश्नों से निपटने और उससे हट कर बाहर जाने में वैसी ही कठिनाई महसूस होगी, जैसी उक्त प्रश्न को सुनकर किसी भले आदमी की हो सकती है।

दूसरी उस कहावत का स्मरण होता है कि हरियाणा के किसी गाँव में कोई जाट एक खाट सिर पर उठाए जा रहा था। रास्ते में अपने दालान पर बैठे एक तेली ने उसे देखकर हँसी में कहा, "जाट रे जाट, तेरे सिर पर खाट!" जाट को कुछ बुरा सा लगा। उसने भी पलट कर कहा, "तेली रे तेली, तेरे सिर पर कोल्हू!" इस पर तेली ने कहा, "भई, तुम्हारी बात में तुक तो बैठी नहीं।" जाट ने कहा, "तुक मिले या नहीं, कोल्हू के वजन से तुम पिस जाओ, मेरा तो यह मतलब है।"

सेमिनार की प्रस्तावना में दिए गए तीस सवाल उस जाट वाली भावना से ही रखे गए थे। चाहे उन बातों की कोई तुक हो या नहीं, दी गई प्रस्थापनाओं का कोई सिर-पैर या संगति हो या नहीं, किन्तु उन्हें पढ़ने वाला उन्हीं में उलझ कर रह जाए, या चिढ़कर चुप हो जाएपूरे लेख का यही उद्देश्य प्रतीत होता है। अन्यथा 'संस्कृति', 'मिश्रित संस्कृति' या 'बहु-संस्कृति' आदि शब्दों को निराकार, मनमाने या अन्तर्विरोधी रूपों में प्रयोग करने का कोई और आशय नहीं हो सकता। जैसे, "आज दुनिया भर के सभी समाज बहुसांस्कृतिक हो गए हैं" जैसी मनमानी सपाटबयानी से कोई क्या समझे! क्या चीन कोई बहुसांस्कृतिक समाज है? या ईरान, जापान अथवा सम्पूर्ण अरब क्षेत्र के तमाम देश? मंगोलिया और मध्य एशिया के सभी देश? पूरा अफ्रीका? इन सभी देशों में अपनी विशिष्ट संस्कृति, भाषा, रीति-रिवाज इतनी स्पष्टता से परिलक्षित होते हैं कि वहाँ हमारे मार्क्सवादी का 'बहुसंस्कृतिवाद' कोई समझ ही नहीं सकेगा। और स्वयं यूरोप, कनाडा, संयुक्त राज्य अमेरिका में क्या अनेक तरह की संस्कृति है? वहाँ

इस नाम का एक राजनीतिक *नारा* अवश्य है, जिसे मुट्ठी भर प्रगल्भ लोग अपने धन्धे के रूप में प्रयोग करते हैं। किन्तु उन देशों की संस्कृति भी विशिष्ट है।

उदाहरण के लिए अमेरिकी संस्कृति में प्रोटेस्टेंट ईसाइयत के तत्त्व बड़ी मजबूती से जमे हुए हैं। लोकतन्त्र का अमेरिकी स्वरूप भी उसी का अंग है। उसी तरह चीन में हान संस्कृति और अरब के सभी देशों में एक मात्र इस्लामी संस्कृति है। वही एशिया के ईरान और पाकिस्तान में भी है। यह देश स्वयं को न केवल घोषित व औपचारिक रूप से 'इस्लामी गणतन्त्र' कहते हैं, वरन् उनके नियम, कानून, परिधान, भोजन, विदेश नीति आदि सब कुछ मुख्यतः इस्लामी निर्देशों' से नियन्त्रित हैं। तब हमारे मार्क्सवादी द्वारा जान-बूझ कर दुनिया के सभी समाजों को 'बहुसांस्कृतिक' किस मंशा से कहा जा रहा है? यहीं से भारतीय मार्क्सवादियों के कटिबद्ध हिन्दू-विरोधी एक्टिविज्म को पहचानना आरम्भ कर सकते हैं। उनका उद्देश्य मात्र यह स्थापित करना है कि भारत कोई सनातन-धर्मी या हिन्दू समाज नहीं है, न होने की कोई बात भी करे! यह तो मिश्रित-संस्कृति वाला, बहुसांस्कृतिक समाज है जिसमें एक गंगा-जमुनी संस्कृति है, जिसमें इस्लाम का गहरा योगदान है। उर्दू शायरी, सूफी सिलसिला, ताजमहल और लालकिला, मुगलई खाना और सींक-कबाबयह सब हिन्दुस्तानी संस्कृति का अविभाज्य अंग है! अतएव, यदि आप संस्कृत, रामायण, महाभारत, उपनिषद्, योग, आयुर्वेद, छप्पन-भोग या वाल्मीकि, व्यास, कालिदास आदि की सांस्कृतिक चर्चा करते हैं तो इसका अर्थ यही है कि आप इस्लाम के महान सन्देश को छोटा करके दिखाना चाहते हैं। मुसलमानों की, अल्पसंख्यकों की भावना को ठेस पहुँचाना चाहते हैं। यह हिन्दू साम्प्रदायिकता है। इसकी इजाजत नहीं दी जा सकती। यही साबित करना था, क्यू.ई.डी.।

अब आप यह न पूछें कि तब क्या ईरान, सऊदी अरब और पचास अन्य मुस्लिम देशों में 'मुस्लिम साम्प्रदायिकता' का बोल-बाला है? अर्थात् उन देशों में, जो इस्लाम के अतिरिक्त न तो किसी विश्वास, न परम्परा, न परिधान, न खान-पान को कानूनी या सार्वजनिक रूप से बर्दाश्त करते हैं? यहाँ तक कि उन देशों में विदेशी, गैर-मुस्लिम लोगों को भी इस्लामी नियमों का पालन करना होता है। अमेरिकी, ईसाई महिला पत्रकार को भी तेहरान में बुर्का पहनकर चलना होता है। रियाद में हिन्दू इंजीनियर न तो पूजा-पाठ कर सकता है, न दुर्गा या हनुमान की कोई मूर्ति ले जा सकता है न *रामचरित मानस* का कोई गुटका ही रख सकता है। तो क्या यह कहें कि वे देश मुस्लिम साम्प्रदायिक हैं? किसी भी हाल में, दर्जनों देशों में स्पष्ट इस्लामी तन्त्र को देखते हुए दुनिया के इतने विशाल क्षेत्र के देशों को 'बहुसांस्कृतिक' कैसे कह दिया जा सकता है?

इसलिए ऐसे प्रश्न सुनते ही कि क्या अरब-अफ्रीका-एसिया के दर्जनों देश 'मुस्लिम साम्प्रदायिक कहे जा सकते हैं, जहाँ सेक्यूलरिज्म का कोई ठौर नहीं है?

हमारे मार्क्सवादी प्रोफेसर बात बदलने को उद्धत हो उठेंगे। वैसे भी, इनसे बचने के लिए ही तो वे तीस प्रश्न सेमिनार की प्रस्तावना में डाले गए थे ताकि 'अन्तर्राष्ट्रीय' चलन की धौंस देकर भीरु हिन्दुओं को पहले ही मौन किया जा सके। फिर चाहे वस्तुतः बात केवल भारत पर ही केन्द्रित रहे, पूरी चर्चा में बहुसांस्कृतिवाद, मिश्रित-संस्कृति की जय-जयकार हो। ठीक इसीलिए संस्कृति या बहुसंस्कृति की कोई स्पष्ट परिभाषा से भी बचा गया, ताकि मौके पर काम आए। अब मजहब को संस्कृति का अंग मानना ठीक नहीं! टेलीविजन, जींस, हैमबर्गर, अंग्रेजी, हॉलीवुडयह सब न आधुनिक संस्कृति के अंग हैं। तब आप आसानी से समझ जाएँगे कि दुनिया कैसी बहुसांस्कृतिक हो चली है। इसी दृष्टि से आप यह भी समझ सकेंगे कि 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' की बातें करने वाले कैसे दकियानूस और साम्प्रदायिक लोग हैं। जी हाँ, प्रस्तावना में 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' की लिख कर निन्दा कर दी गई है! यह संयोग नहीं, बल्कि पूर्व-निर्धारित निष्कर्ष की ओर ले जाने की अपरिहार्य वामपंथी तकनीक है।

वस्तुतः सेमिनार के लिए तैयार यह पूरी प्रस्तावना इस्लामी श्रेष्ठता की दृष्टि से बनाई गई है। इसीलिए इसके तीस प्रश्नों में से ऐसा एक भी नहीं था जो इस्लामी या ईसाई साम्पद्रायिकता के लिए असुविधाजनक हो। वरन् पूरी चर्चा इस्लामी संस्कृति पर जोर देने, उसे महत्त्वपूर्ण बताने, उसे शक्ति देने के लिए तैयार की गई है। यह समझने के लिए ऐसे लेखों, दस्तावेजों, कार्यक्रमों का तनिक ध्यान से अवलोकन करना चाहिए। आदि से अन्त तक इसमें हिन्दू-विरोधी मनोवृत्ति अटी रहती है। प्रतिभागियों का चुनाव, अवधारणाओं की अस्पष्टताएँ, मनमानी घोषणाएँ, पक्षपात और निर्लज्ज मिथ्याचारइन सबके पीछे इसी मनोवृत्ति का निर्देश रहता है। पाठक स्वयं इसका परीक्षण कर सकते हैं। हमारे मार्क्सवादियों की सक्रियता उन्हें निरन्तर इसका अवसर देती रहती है। आवश्यकता इस बात की है कि पूर्व-धारणाओं से मुक्त होकर स्वयं अपने विवेक से प्रस्तावित विचारों, नारों, प्रस्थापनाओं की परख की जाए। जब सामान्य पाठक ऐसा करने लगेंगे, मिली-जुली संस्कृति के पीछे के राजनीतिक आशय को पहचानने में कभी सन्देह न होगा।